|| गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ||

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 3: कर्मयोग

1/3 (श्लोक 1-10), शनिवार, 06 जून 2026

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/2mHWJN3VUSo

कर्म के आलोक में जीवन का उत्कर्ष

सुमधुर देशभक्ति गीत, श्री वल्लभाचार्य कृत मधुराष्टक, श्री हनुमान चालीसा का पाठ और प्रार्थना के पश्चात दीप प्रज्वलन सम्पन्न हुआ। माँ सरस्वती, श्रीभगवान् वेदव्यास जी, ज्ञानेश्वर महाराज और सद्गुरु स्वामी गोविन्द देव गिरि जी महाराज के चरणों में कोटि-कोटि वन्दना करने के पश्चात् सभी गीता प्रेमी साधकों का अभिवादन किया गया।

श्रीमद्भगवद्गीता का तृतीय अध्याय कर्मयोग के नाम से सुविख्यात है। द्वितीय अध्याय, जिसे साङ्ख्ययोग अथवा श्रीमद्भगवद्गीता का सूत्र अध्याय कहा जाता है, उसके उपरान्त श्रीभगवान् ने कर्म की महत्ता को प्रतिपादित करने हेतु इस अध्याय का उपदेश दिया।

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक जी ने माण्डले के कारागृह में श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य नामक महान् ग्रन्थ की रचना इसी तृतीय अध्याय के साथ चतुर्थ एवं पञ्चम अध्याय के आधार पर की थी।

यह अध्याय हमारे जीवन के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हमारा सम्पूर्ण जीवन कर्ममय होता है। हम सब इस कर्मभूमि में आये हैं। इस कर्मभूमि में रहते हुए अपने कर्म को किस प्रकार कर्मयोग में परिणत करना है और उस कर्मयोग के माध्यम से ज्ञान के दिव्य आलोक तक कैसे पहुँचना है, यही गूढ़ विषय श्रीभगवान् कर्मयोग के माध्यम से हमें समझाते हैं।

3.1

अर्जुन उवाच
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते, मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं(ङ्) कर्मणि घोरे मां(न्), नियोजयसि केशव॥3.1॥

अर्जुन बोले - हे जनार्दन! अगर आप कर्म से बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ?

विवेचन- अर्जुन के उपर्युक्त वचनों से तृतीय अध्याय का प्रारम्भ होता है। अपने स्वजनों को अपने सामने पाकर अर्जुन विषादग्रस्त हुए क्योंकि उन पर एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक दबाव था। इसी कारण उन्होंने अपना गाण्डीव धनुष रख दिया था।

श्रीभगवान् ने पहले अर्जुन को डाँटा और उनसे कहा-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥2.3॥

श्रीभगवान् कहते हैं- हे परन्तप अर्जुन! अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़े हो जाओ। नपुंसकता को मत अपनाओ। अज्ञातवास में तुमने जो नपुंसकता का शाप था, वह तो सहन कर लिया, परन्तु अब इसे छोड़ो।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन- यह आचरण श्रेष्ठ पुरुषों के योग्य नहीं है, न ही स्वर्ग देने वाला है और न ही इससे कीर्ति प्राप्त होगी। अर्जुन फिर भी नहीं माने।

अर्जुन पहले प्रज्ञावाद की बातें कर रहे थे कि मुझे सब ज्ञात है परन्तु 'मुझे सब ज्ञात है' इस भूमिका से निकलकर अर्जुन ने जिस प्रकार से श्रीभगवान् की शरणागति और समर्पण को स्वीकार किया-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥2.7

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्- इस भूमिका में अर्जुन आते हैं। वे कहते हैं, हे श्रीभगवान्! करुणा के कारण मेरा मूल वीर स्वभाव, मेरी वीर वृत्ति ढक गयी है। मैं अपने जीवन का कल्याण नहीं समझ पा रहा हूँ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

अर्थात् मेरे लिये जो निश्चित रूप से श्रेयस्कर हो, वही मुझे बताइये। मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा है। श्रीभगवान्, आप मेरे गुरु हैं, आप मेरे कल्याण का मार्ग प्रशस्त कीजिये।

इस भावना के साथ वे अपने सद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं। उसके बाद ही श्रीभगवान् की वाणी भी कोमल हो गयी क्योंकि जब कोई शरणागति में आता है, तब जिसके चरणों में हम समर्पित होते हैं, उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस शरणागत जीव का कल्याण करे। इसके पश्चात् ही श्रीभगवान् के मुखारविन्द से द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से वह शाश्वत ज्ञान की धारा बहने लगती है।

श्रीभगवान् सर्वप्रथम जिस प्रकार से साङ्ख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग, आत्मज्ञान का तत्त्वज्ञान या आत्मा की अमरता का सन्देश देते हैं, वे उस आत्मा का वर्णन करते हैं जो अविनाशी है। हम दो तत्त्वों से बने हैं-

एक अविनाशी और दूसरा विनाशी।
एक देह है और एक देही है।
एक स्थूल है और एक सूक्ष्म है।

हम लोग प्रायः स्थूल की भूमिका में ही जीवन जीते हैं। अर्जुन भी वैसे ही जीवन जी रहे हैं तब श्रीभगवान् उन्हें बताते हैं कि तुम केवल स्थूल नहीं हो, तुम सूक्ष्म आत्मतत्त्व हो। इस ज्ञान तक पहुँचना ही मनुष्य जीवन का अन्तिम गन्तव्य है। यहाँ तक पहुँचने के लिये कर्म ही मुख्य आधार है। श्रीभगवान् कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते- अर्थात् तुम्हारा अधिकार, तुम्हारी योग्यता केवल कर्म करने में ही है।

अर्जुन इस रहस्य को पूर्णतः समझ नहीं पाये। वे इस समय रणभूमि के अपने कर्त्तव्य रूपी कर्म को त्यागना चाहते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीभगवान् उन्हें इस कर्म से विमुख होने की अनुमति प्रदान कर दें, क्योंकि वे उनके शरणागत शिष्य हैं।

शिष्य शब्द के दो बहुत ही गम्भीर और दिव्य अर्थ होते हैं-

शंसनात् शिष्य- अर्थात् जो अपने सद्गुरु से समस्त संशयों का समूल निराकरण चाहता है, जो ज्ञान की प्राप्ति की आकाङ्क्षा रखता है।

शासनात् शिष्य- अर्थात् जो गुरु की प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है और स्वयं पर गुरु के शासन को सहर्ष स्वीकार करता है।

जब तक कोई साधक इन दोनों भूमिकाओं को आत्मसात् नहीं कर लेता, तब तक गुरु से प्रवाहित होने वाली परिपूर्ण ज्ञान की वह पावन धारा उस तक पहुँच ही नहीं सकती।

व्यावहारिक जीवन में कर्मों का जो परिणाम होता है, वे कर्म के बन्धन निर्मित करते हैं। कभी-कभी हम सब भी अपने जीवन में कर्म करने से केवल इसलिये भयभीत होते हैं क्योंकि हम उस कर्म के सम्भावित परिणामों को स्वीकार नहीं करना चाहते। हम उन परिणामों से डरकर कर्म से ही पलायन कर जाना चाहते हैं। आज अर्जुन भी ठीक उसी असमञ्जस की भूमिका में आकर खड़े हो गये हैं। अर्जुन को लगता है कि श्रीभगवान् उनकी इस इच्छा को अपनी स्वीकृति दे देंगे परन्तु श्रीभगवान् उन्हें इस प्रकार कर्त्तव्य से भागने की अनुमति कदापि नहीं देते।

श्रीभगवान् स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशद वर्णन कर देते हैं और कहते हैं-

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥2.72॥

श्रीभगवान् समझाते हैं कि यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने के बाद अन्तकाल में भी यदि मनुष्य इस स्थिति में स्थित हो जाए तो वह ब्रह्मानन्द (मोक्ष) की प्राप्ति कर लेता है। वह ज्ञानी पुरुष इस अवस्था को प्राप्त कर 'न विमुह्यति' अर्थात् कभी विमूढ़ नहीं होता, अपनी आत्मस्थिति में ही सदैव स्थिर रहता है और इस परम स्थिति से कभी अपना मुख नहीं मोड़ता।

इस उपदेश को सुनकर अर्जुन के अन्त:करण में एक गम्भीर प्रश्न उत्पन्न होता है, जिसे वे व्यक्त करते हैं-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन

श्रीभगवान् एक ओर आप ज्ञान की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं, ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर मुझे इस घोर कर्म को छोड़ने की अनुमति भी नहीं देते। हे जनार्दन! मेरी बुद्धि तो पहले से ही विचलित हो गयी है, मैं पूर्णतः भ्रमित हूँ और इस समय घोर भ्रान्ति में जी रहा हूँ। क्या करूँ और क्या न करूँ, इस महान् सम्भ्रम में मैं फँस गया हूँ।

अर्जुन अपनी शङ्का को स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं-

"हे जनार्दन! यदि आपके मत के अनुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धि अर्थात् ज्ञान श्रेष्ठ है, तो हे केशव! फिर आप मुझे इस भीषण और घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? आप मुझे इस युद्ध में क्यों झोंक रहे हैं?"

एक बात तो सर्वथा निश्चित हो गयी है कि यहाँ पर श्रीभगवान् के लिये अर्जुन दो सम्बोधनों का प्रयोग करते हैं- एक जनार्दन और दूसरा केशव। इस समय अर्जुन अत्यन्त व्याकुल हो गये हैं, परन्तु वे पूर्णतः समर्पित भी हैं। सम्मुख भीषण युद्ध खड़ा है। ऐसे कालखण्ड में अर्जुन की शोकाकुल मनोदशा है, ऐसी मानसिक स्थिति में कोई भी वीर युद्ध नहीं कर सकता। इसके उपरान्त भी श्रीभगवान् उन्हें रणभूमि से हटने की अनुमति नहीं दे रहे। इसी कारण वे पूछते हैं- "हे केशव! आप इस घोर कर्म के लिये मेरी योजना क्यों कर रहे हैं?"

अपनी इसी दुविधा को और अधिक स्पष्ट करते हुए अर्जुन कहते हैं-

3.2

व्यामिश्रेणेव वाक्येन, बुद्धिं(म्) मोहयसीव मे।
तदेकं(वँ) वद निश्चित्य, येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥3.2॥

(आप अपने) मिले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित-सी हो रही है। (अतः आप) निश्चय करके उस एक बात को कहिये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।

विवेचन- **व्यामिश्रेण इव वाक्येन** अर्थात् आपके इन मिले-जुले वचनों के कारण, इस प्रकार से सम्भ्रम उत्पन्न करने वाले वाक्यों के कारण मैं असमञ्जस में हूँ। आप एक बार ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, तो दूसरी बार कर्म की प्रशंसा करने लगते हैं। ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा सुनने के कारण मेरे अन्त:करण में उस परम ज्ञान को प्राप्त करने की लालसा तीव्र हो गयी है, परन्तु आप मुझे इस घोर कर्म को त्यागने की अनुमति नहीं दे रहे हैं।

इसीलिये **मे बुद्धिं मोहयसीव**- ऐसा प्रतीत होता है कि इन वचनों से आप मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं, मुझे मोह में डाल रहे हैं और इससे मेरा सम्भ्रम और अधिक बढ़ता जा रहा है। मैं पहले से ही भीतर ही भीतर छटपटा रहा हूँ और अपने कल्याण का मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ, इसी कारण मैं आपकी पावन शरण में आया हूँ।

येन अहं श्रेय आप्नुयाम्- जिस मार्ग से मैं अपने श्रेय अर्थात् परम कल्याण को प्राप्त कर सकूँ।

तत् एकं निश्चित्य वद- वह एक बात आप मुझसे पूर्ण निश्चय के साथ और स्पष्टता से कहिये।

जिस प्रकार एक छोटा बालक अत्यन्त सरलता और निष्कपट भाव से अपने माता-पिता से पूछता है कि मुझे असमञ्जस में मत डालिये, मुझे केवल एक बात बताइये; ठीक उसी प्रकार अर्जुन भी यहाँ अपने कल्याण का मार्ग पूछ रहे हैं। मानव जीवन में दो मार्ग होते हैं-

श्रेय- श्रेय का अर्थ है परम कल्याण और इसके विषय में हमें किसी ज्येष्ठ, श्रेष्ठ अथवा गुरु से ही मार्गदर्शन लेना पड़ता है।

प्रेय- प्रेय मार्ग के विषय में हम सबको पहले से ही ज्ञात होता है। जो हमारे मन और इन्द्रियों को प्रिय (अच्छा) लगता है, वही प्रेय है।

इसे हम एक साधारण दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे यदि कोई मधुमेह (Diabetes) का रोगी है, तो वह चिकित्सक के पास जाकर परामर्श लेता है कि उसे उत्तम स्वास्थ्य के लिये क्या-क्या खाना चाहिये। वह स्वयं निर्णय नहीं ले पाता। चिकित्सक उसे वही बताता है जो उसके स्वास्थ्य के लिये हितकर अर्थात् श्रेयस्कर हो। इस प्रकार जीवन में श्रेय क्या है, यह सदैव पूछना ही पड़ता है।

अर्जुन अब यही पूछ रहे हैं कि हे माधव! मेरे लिये श्रेयस्कर मार्ग कौन सा है, यह मुझे निश्चित रूप से बताइये।

अब यहाँ एक गूढ़ बात समझने योग्य है। अर्जुन की आन्तरिक इच्छा तो यही है कि श्रीभगवान् उन्हें अनुमति प्रदान कर दें ताकि वे इस युद्धभूमि को छोड़कर चले जाएँ और एकान्त में ज्ञान की आराधना करने लगें। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज अर्जुन के मन के गहरे असमञ्जस को अपनी दिव्य वाणी में प्रकट करते हैं-

मी आधींचि कांही नेणें, वरी कवळिलों मोहें येणें।

कृष्णा विवेकु या कारणें, पुसिला तुज ॥१०॥

तंव तुझी एकेकी नवाई, एथ उपदेशामाजीं गांवाई।

तरी अनुसरलिया काई, ऐसें कीजे ॥११॥

अर्जुन इस ओवी के माध्यम से अपने अन्त:करण की छटपटाहट व्यक्त करते हुए कहते हैं-

हे भगवान् श्रीकृष्ण! मैं तो पहले से ही अज्ञानी हूँ, मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। ऊपर से इस भीषण मोह ने मुझे चारों ओर से घेर लिया है, जिससे मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है। हे भगवान् श्रीकृष्ण, हे मेरे गुरु, हे मेरे परम सखा! मैं कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक प्राप्त करने के लिये ही तो आपसे प्रश्न कर रहा हूँ कि मुझे इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? हे श्रीभगवान्! आपका यह चरित्र भी बड़ा निराला और नवल है। आप मन्द-मन्द मुस्कुराते हैं, परन्तु अपने इस अनन्य शिष्य को स्पष्ट रूप से कुछ नहीं बताते। आपके इस उपदेश में ही कुछ उलझन प्रतीत होती है। जो पूर्ण रूप से आपकी शरण में आ चुका है और आपके पावन पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहता है, जो आपके उपदेश को अपने जीवन में अक्षरशः उतारने के लिये तत्पर है, उसके साथ क्या ऐसा व्यवहार किया जाता है? आप कृपा करके मुझसे निश्चित रूप से कहिये कि मैं कौन से मार्ग का चयन करूँ- ज्ञान का मार्ग अथवा कर्मयोग का मार्ग?

अर्जुन के इस निष्कपट और भावपूर्ण अनुनय को सुनकर श्रीभगवान् का हृदय करुणा से भर उठता है। श्रीभगवान् अब अत्यन्त प्रिय और मधुर वाणी में आ जाते हैं। अर्जुन की इस आकुल पुकार के कारण श्रीभगवान् की उपदेश शैली में एक आत्मीय परिवर्तन आ जाता है और श्रीभगवान् कहते हैं-

3.3

श्रीभगवानुवाच
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां(ङ्), कर्मयोगेन योगिनाम्॥3.3॥

श्रीभगवान् बोले - हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्यलोक में दो प्रकार से होने वाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। (उनमें) ज्ञानियों की (निष्ठा) ज्ञानयोग से और योगियों की (निष्ठा) कर्मयोग से (होती है)।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन को **अनघ** कहकर सम्बोधित करते हैं। अनघ का अर्थ है निष्पाप, जो अत्यन्त सरल है, जिसके भीतर कोई कपट नहीं है, जो पूर्णतः निष्कपट है। श्रीभगवान् कहते हैं कि मैंने इससे पहले भी दो निष्ठाओं का वर्णन किया है।

निष्ठा शब्द का वास्तविक अर्थ है-

नि अर्थात् पक्की
ष्ठा अर्थात् उसमें तिष्ठित रहना, उसमें अडिग खड़े रहना, उसे सुदृढ़ता से पकड़कर रखना

अर्थात् जिस मार्ग को जीवन में पक्का पकड़कर उसी में निरन्तर स्थित रहा जाए, उसे निष्ठा कहते हैं।

श्रीभगवान् समझाते हैं कि इस संसार में दो प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं।

जो साङ्ख्ययोगी हैं, जो ज्ञानप्रधान हैं, विचारप्रधान हैं, बुद्धिवादी हैं और जिनमें विवेक की प्रधानता अधिक होती है, उनके लिये 'ज्ञानयोग' का मार्ग है। साङ्ख्ययोग ही वास्तव में ज्ञानयोग है।

इसके विपरीत, कुछ लोग स्वभाव से क्रियाप्रधान होते हैं। यदि हम उनसे कहें- "आप यहाँ शान्त बैठकर इस आध्यात्मिक विवेचन को श्रवण कीजिये", तो वे कहेंगे- "मुझसे इतनी देर शान्त बैठकर सुना नहीं जाता, इससे अच्छा तो मैं व्यवस्था का कोई कार्य जैसे मञ्च सञ्चालन (Anchoring) सँभाल लेता हूँ या कोई अन्य सेवा कर देता हूँ।"

श्रीभगवान् की इस अद्‌भुत सृष्टि के सञ्चालन के लिये क्रियाप्रधान लोगों की भी महती आवश्यकता है। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं-

कर्मप्रधान योगियों के लिये 'कर्मयोग' का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति, अपनी प्रकृति और अपने स्वभाव के अनुकूल ही मार्ग का चयन करना चाहिये। यद्यपि साधना के मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा जो गन्तव्य है, वह एक ही है। एक ही परम लक्ष्य तक पहुँचने के ये अनेक मार्ग हैं।

इसे हम एक साधारण दृष्टान्त से समझ सकते हैं। जैसे यदि किसी को दिल्ली जाना है, तो कोई वायुयान से यात्रा करेगा, कोई रेलगाड़ी से जाएगा, कोई बस से जाएगा, तो कोई ऐसा भी होगा जो पैदल चलकर जाएगा। इस प्रकार, जिसका जैसा स्वभाव, जैसी प्रकृति और जैसी योग्यता होती है, वह उसी के अनुसार अपने मार्ग का चयन करता है। इसी सन्दर्भ में श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं- "

अरे! तुम्हारे लिये ज्ञानयोग का मार्ग है ही नहीं अर्जुन। तुम स्थिति को त्रुटिपूर्ण ढङ्ग से समझ रहे हो।"

वास्तविकता यह है कि श्रीभगवान् ने आत्मज्ञान की बातें द्वितीय अध्याय में पहले ही कह दी थीं। वे बातें इसलिए कही गई थीं क्योंकि मनुष्य को संसार में सबसे बड़ा भय होता है-

काये कृतान्ताद्भयम्

अर्थात् देह छोड़ने का भय, मृत्यु का भय। अर्जुन को भी इस समय वही भय सता रहा है कि युद्धभूमि में उनके ये इतने सारे सगे-सम्बन्धी मारे जाएँगे। इसी कारण श्रीभगवान् उन्हें उस दूसरे स्वरूप का, जो कि हमारा मूल स्वरूप है, अविनाशी आत्म-स्वरूप है, उसका बोध कराते हैं। इस अविनाशी आत्म-स्वरूप के आधार पर चलने वाला यह संसार तो केवल एक विनाशी खेल मात्र है।

श्रीभगवान् इस सत्य का प्रबोधन सबसे पहले इसलिए देते हैं ताकि अर्जुन के मन से मृत्यु का भय पूर्णतः निकल जाए। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अभी अर्जुन की योग्यता उस ज्ञानयोग के मार्ग पर चलने की हो गई है।

इस विषय में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज अपनी ओवी में सुन्दर बात कहते हैं-

हे मार्गु तरी दोनी, परि एकवटती निदानीं। जैसे सिद्धसाध्यभोजनीं, तृप्ति एकी ॥३८॥

वे समझाते हैं कि ये दोनों मार्ग अन्ततः एक ही परम लक्ष्य अर्थात् परमात्म-तत्त्व तक पहुँचाते हैं, मनुष्य को उसके अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इन दोनों की कार्यप्रणाली में अन्तर है जिसे स्पष्ट करने के लिए वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार-

एक- सिद्ध भोजन होता है अर्थात् पूर्णतः पकी-पकाई रसोई

दूसरा होता है- साध्य भोजन अर्थात् कच्चा अनाज, जैसे आटा, चावल या बाजार से लाई हुई कच्ची शाक-सब्जी, जिसे अभी बनाना शेष है। उसे पहले पकाना पड़ता है।

निश्चित ही दोनों से तृप्ति होती है परन्तु सिद्ध भोजन, जो कि पहले से तैयार है, उससे तुरन्त तृप्ति प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत, जो साध्य भोजन है, जिसे अभी साधना पड़ेगा, जिसे पहले पकाने की क्रिया द्वारा सिद्धता में परिणत करना पड़ेगा, उससे भी तृप्ति अवश्य होगी, परन्तु उसे सिद्ध करने के पश्चात् ही ऐसा सम्भव हो सकेगा।

इसी प्रकार,

कर्मयोग साध्य भोजन के समान है और ज्ञानयोग सिद्ध भोजन के समान है।

जो ज्ञानमार्गी हैं, उनके लिए वह ज्ञान सिद्ध है, इसलिए वे उसके माध्यम से तुरन्त परम पद तक पहुँच सकते हैं। एक कर्मयोगी को अपने प्रत्येक कर्म को निष्काम भाव से करते हुए, उसे कर्मयोग में परिणत करना होता है और उसके माध्यम से उस परम ज्ञान तक पहुँचना होता है। इसमें विशेष बात तो यह है कि इस सिद्ध भोजन का आनन्द लेने वाले ज्ञानयोगी ने भी अपने पूर्व जन्मों में कर्मयोग के माध्यम से ही इस अवस्था को साध्य किया है। उन्होंने पहले अपने कर्मयोग के मार्ग से इस साध्य भोजन को पकाकर सिद्ध किया है, तब जाकर वे आज इस ज्ञानयोग की उच्च अवस्था तक पहुँचे हैं।

इस प्रकार, ये दोनों मार्ग आरम्भ में पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी साधक को एक ही परम स्थान पर पहुँचाने वाले हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं-

"अर्जुन! तुम्हें पहले कर्मयोग ही अपनाना पड़ेगा।

तुम्हारी मानसिक प्रवृत्ति और योग्यता इसी के अनुकूल है, इसलिए मैं तुम्हें इस घोर कर्म को छोड़ने की अनुमति नहीं दे रहा हूँ।

यह तुम्हारा कर्त्तव्य कर्म है।"

प्रश्न उठता है कि अर्जुन के लिये श्रीभगवान् ने यह ज्ञानयोग का मार्ग पहले क्यों बताया?

इस विषय में गुरुदेव कहते हैं कि श्रीभगवान् भी बड़े चतुर व्यापारी हैं। वे अपना सबसे उत्तम माल पहले दिखाना चाहते हैं। जैसे जब हम किसी वस्त्र की दुकान पर जाते हैं, यदि किसी दुकानदार ने हमें कोई बहुमूल्य वस्त्र दिखाया, तो हम कह उठते हैं- "अरे नहीं-नहीं, मेरी जेब में इतने पैसे नहीं हैं, इसे मैं नहीं ले सकती, यह बहुत महँगा है।" तब दुकानदार बड़े प्रेम से आग्रह करता है- "अरे! आप इसे केवल देख तो लीजिये, देखने में क्या हानि है?" अब उस सुन्दर वस्तु को देखने से क्या होता है? उसे देखने से मन पर उसकी एक अमिट छवि अङ्कित हो जाती है। फिर घर जाने के बाद भी वही वस्तु बार-बार स्मरण में आती है और ऐसा लगता है कि- "चलो, मैं किसी भी प्रकार उतने धन का सञ्चय करूँ और एक दिन इसे अवश्य क्रय कर लूँ।"

ठीक इसी प्रकार, श्रीभगवान् भी अपना जो सबसे दिव्य और श्रेष्ठ उत्पाद है- ज्ञान, आत्मज्ञान और आत्मस्वरूप उसे पहले ही प्रदर्शित कर देते हैं। वे द्वितीय अध्याय में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥2.24॥

अर्थात् इस आत्म तत्त्व को कोई छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता, इसे कोई अग्नि जला नहीं सकती, इसे जल भिगो नहीं सकता और पवन इसे सुखा नहीं सकता। यह नित्य है, सर्वव्यापी है, स्थिर है, अडिग है और सनातन है। श्रीभगवान् इस आत्मतत्त्व का महिमामण्डन पहले ही कर देते हैं ताकि मनुष्यों के अन्तःकरण में इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने की थोड़ी सी जिज्ञासा, व्याकुलता और तीव्र लालसा जाग्रत हो जाये।

श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं- हे अर्जुन! मैंने इसी उद्देश्य से तुम्हें यह परम ज्ञान पहले प्रदान किया था परन्तु स्मरण रहे-

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।

जो कर्मयोगी हैं अथवा कर्म करने में ही जिनकी स्वाभाविक योग्यता है, ऐसे क्रियाप्रधान मनुष्यों के लिये कर्मयोग का मार्ग ही श्रेयस्कर और कल्याणकारी है।

अब श्रीभगवान् यहाँ पर शरणागतता की बात करते हैं, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय है। जैसे-जैसे हम श्रीमद्भगवद्गीता के शरणागत होते हैं, श्रीभगवान् के शरणागत होते हैं, वैसे-वैसे श्रीमद्भगवद्गीता भी अपने अन्तरङ्ग के रहस्य हमें प्रदान करने लगती है।

3.4

न कर्मणामनारम्भान्, नैष्कर्म्यं(म्) पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव, सिद्धिं(म्) समधिगच्छति॥3.4॥

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता का अनुभव करता है और न (कर्मों के) त्याग मात्र से सिद्धि को ही प्राप्त होता है।

विवेचन- श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि कर्मों का आरम्भ न करने मात्र से कोई 'नैष्कर्म्य' (निष्काम स्थिति) को प्राप्त नहीं कर सकता और न ही केवल कर्मों का त्याग (संन्यास) कर देने से सिद्धि प्राप्त होती है। मुक्ति अथवा सिद्धि के लिये केवल बाह्य त्याग पर्याप्त नहीं

है, अपितु कर्म को कर्मयोग में परिवर्तित करना अनिवार्य है।

नैष्कर्म्य वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति को कुछ भी करने, पाने या जानने की शेष आवश्यकता नहीं रहती। इसे ही श्रीभगवान् नैष्कर्म्य सिद्धि कहते हैं, जिसका अर्थ है समस्त दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति।

केवल कर्मों का परित्याग कर देने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। नैष्कर्म्य का अर्थ कर्म का जड़वत त्याग नहीं है, अपितु कर्म करते हुये भी उसके परिणामों से अप्रभावित रहना है। जब बाह्य रूप में कर्म गतिशील हो परन्तु अन्तर्मन निरासक्त और बोझमुक्त हो, तब वह नैष्कर्म्य अवस्था कहलाती है।

दुःखों से मुक्ति की इस अवस्था तक पहुँचने के लिये प्रारम्भ में कर्म की साधना अपरिहार्य है। अत्यधिक कर्म करने के उपरान्त ही 'कुछ न करने' की सहज स्थिति उत्पन्न होती है।

सन्त तुकाराम महाराज इस अवस्था का वर्णन करते हुये कहते हैं कि उन्होंने मुक्ति रूपी वधू से विवाह कर लिया है और अब वे उस जीवनमुक्त अवस्था में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं-

तुका म्हणे मुक्ति परिणिली नोवरी।

आता दिवस चारी खेळीमेळी।।

जिस प्रकार आठ घण्टे का कार्य तीन घण्टे में पूर्ण कर लेने पर शेष समय आनन्द के लिये उपलब्ध होता है, वैसी ही स्थिति सिद्ध महापुरुषों की होती है।

नैष्कर्म्य की पात्रता के सम्बन्ध में सन्त गोंदवलेकर महाराज के जीवन का एक प्रेरक प्रसङ्ग उल्लेखनीय है। वे महाराष्ट्र के एक महान् सन्त थे जिन्होंने नाम जप को ईश्वर प्राप्ति का सुगम मार्ग बताया। एक समय वे अपने शिष्यों के साथ एक मन्दिर में साधना कर रहे थे। वहीं समीप ही कुछ श्रमिक धूप में कठिन परिश्रम कर रहे थे। श्रमिकों को लगा कि शिष्यों का जीवन अत्यन्त सुगम है क्योंकि वे केवल एक स्थान पर बैठकर माला फेर रहे हैं।

महाराज ने उनकी मनोदशा को जानकर उन्हें दुगुनी मजदूरी का प्रस्ताव दिया, बशर्ते वे भी आठ घण्टे बैठकर माला फेरें। श्रमिक आरम्भ में तो बैठे, परन्तु अल्प समय में ही वे ऊब गये और मन्त्र साधना त्यागकर पुनः अपने शारीरिक श्रम की ओर लौट गये। उन्होंने स्वीकार किया कि उनके लिये मज़दूरी करना अधिक सरल है। इस प्रसङ्ग से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता और अधिकार होता है।

नैष्कर्म्य अवस्था का वर्णन गुरुदेव ने इस प्रकार किया है-
आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति।

सम्पूर्ण जीवन के सारे दुःखों से निवृत्त होकर उस परमानन्द तक पहुँचना, देह में रहते हुये ही पहुँचना, कर्म करते हुये भी अन्तरङ्ग की उस अवस्था तक पहुँचना।

नैष्कर्म्य अवस्था केवल कर्म के अनुष्ठान के पश्चात् ही सम्भव है।

श्रीभगवान् अर्जुन को सम्बोधित करते हुए इस त्रैलोक्य के अच्युत नियम का उद्घाटन करते हैं-

3.5

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः(ख्) कर्म, सर्वः(फ्) प्रकृतिजैर्गुणैः॥3.5॥

कोई भी (मनुष्य) किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि (प्रकृति के) परवश हुए सब प्राणियों

से प्रकृति जन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन को सृष्टि का अटल नियम समझाते हुये कहते हैं- हे अनघ अर्जुन! इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी मनुष्य अथवा भूत मात्र, एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

यहाँ भूत का अभिप्राय पञ्चमहाभूतों- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के सम्मिश्रण से निर्मित उस प्रत्येक संरचना से है जिसमें चेतना का वास है। चाहे वे नभ में उड़ने वाले पक्षी हों, वन में विचरने वाले पशु हों या पृथ्वी से जुड़े वनस्पति हों; सृष्टि का कोई भी जीव किसी भी काल में एक क्षण मात्र के लिये भी अकर्मण्य होकर नहीं बैठ सकता। इस कर्मभूमि में प्रत्येक प्राणी प्रतिपल, प्रतिक्षण अनिवार्य रूप से कर्मरत ही रहता है। मनुष्य ही नहीं, अपितु पञ्चमहाभूतों से निर्मित समस्त चर-अचर जगत् निरन्तर कर्मरत है। श्वास लेना, बैठना, बोलना या सुनना, ये सभी सूक्ष्म कर्म की श्रेणी में आते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि जीव इस प्रकार निरन्तर कर्म करने के लिये बाध्य क्यों है? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं-

यह जीव प्रकृतिजनित गुणों के कारण पूर्णतः अवश है।

जैसे कीचड़ में जन्म लेने के कारण कमल को पङ्कज कहा जाता है, वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इन तत्त्वों को 'प्रकृतिज' कहा गया है। जब तक जीव प्रकृति के इन तीनों गुणों के अधीन है, तब तक वह अपनी इच्छा से कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता; प्रकृति उससे स्वतः ही कर्म करवा लेती है।

मनुष्य **प्रकृतिजैर्गुणैः अवशः** अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अधीन होकर कर्म करने के लिये बाध्य है। सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुण ही व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करते हैं।

गुण शब्द का एक अर्थ- विशेषता है
दूसरा अर्थ- रस्सी, जो जीव को प्रकृति से बाँधती है।

इन गुणों के सन्तुलन को एक कार के उदाहरण से समझा जा सकता है-

सत्त्वगुण- कार का स्टीयरिंग (ज्ञान का प्रकाश और सही दिशा का बोध)।
रजोगुण- कार का पेट्रोल (गतिशीलता और क्रियाशीलता)।
तमोगुण- कार का ब्रेक (जड़त्व और क्रिया को रोकने की शक्ति)।

सृष्टि के सञ्चालन के लिये इन तीनों का होना आवश्यक है-

सत्त्वगुण निर्णय शक्ति देता है,
रजोगुण कार्य सम्पन्न कराता है,
तमोगुण अति-सक्रियता को रोककर विश्राम प्रदान करता है।

ये गुण जीव को परतन्त्र भी करते हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञान चर्चा के समय निद्रा का अनुभव करता है, तो वह तमोगुण का प्रभाव है। जब मन क्रिया के लिये व्याकुल होता है, तो वह रजोगुण की प्रधानता है। अतः कर्म से पूर्णतः मुक्त होना असम्भव है।

3.6

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः(स्) स उच्यते॥3.6॥

जो कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों) को (हठपूर्वक) रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए बैठता है, वह मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करने वाला) कहा जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन को सम्बोधित करते हुए दम्भ और पाखण्ड के वास्तविक स्वरूप को अनावृत करते हैं। वे कहते हैं कि जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों को तो हठ पूर्वक रोक लेता है परन्तु मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहलाता है।

इन्द्रियाँ केवल उपकरण हैं परन्तु उनका केन्द्र मन है। आँखों से जो भी अच्छा या भयावह दृश्य हम देखते हैं, वह दृश्य तो सामने से चला जाता है परन्तु उसकी छवि हमारे मनःपटल पर अमिट रूप से अङ्कित हो जाती है। कानों से सुने हुए निन्दा अथवा स्तुति के शब्द विलीन हो जाते हैं परन्तु उनका प्रभाव अन्तःकरण में स्थिर रहता है। यदि आँखों को बन्द कर लिया जाए परन्तु मन में दृश्यों का स्मरण चलता रहे, तो वह त्याग व्यर्थ है। श्रीभगवान् हमसे प्रदर्शन नहीं, अपितु आन्तरिक शुचिता चाहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ दिखाने के लिये अच्छाई का ढोंग करता है, उसके आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि "हे श्रीभगवान्! मुझसे त्रुटियाँ होती हैं, मैं भूल करता हूँ परन्तु अब आप ही मुझे सन्मार्ग दिखाइये।" जो मनुष्य स्वयं को श्रेष्ठ दिखाने के अहङ्कार में लगा रहता है और केवल अच्छाई का ढोङ्ग रचता है, उसके आत्मिक विकास के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। महात्मा गाँधीजी के प्रसिद्ध तीन बन्दरों का जो सन्देश है- "बुरा मत देखो, बुरा मत सुनो, बुरा मत कहो," वह केवल आँखों, कानों और होठों को बलात् बन्द कर लेने से सिद्ध नहीं होता। जब तक मन के भीतर अनर्गल प्रलाप चलता रहेगा, तब तक मन किसी न किसी के विषय में बुरा सोचता ही रहेगा और दृश्य देखता ही रहेगा। बाह्य इन्द्रियों का दमन करना समाधान नहीं है क्योंकि मन के भीतर चलने वाला द्वन्द्व अधिक घातक होता है। इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि ऐसा बाह्य नियन्त्रण केवल मिथ्याचार है।

श्रीभगवान् और श्रीमद्भगवद्गीता हमसे किसी भी प्रकार का प्रदर्शन या मिथ्याचार नहीं चाहते। हम जैसे भी हैं, अपने सम्पूर्ण दोषों और त्रुटियों सहित जब उनके चरणों में समर्पित हो जाते हैं, तब श्रीभगवान् स्वयं हमारे जीवन के कल्याण और उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। साधक के मन में यह आन्तरिक पुकार होनी चाहिये-

हे नाथ! अब तो ऐसी दया हो, जीवन निरर्थक जाने न पाए।

श्रीभगवान् तो परम कृपालु माता के समान हैं। जिस प्रकार एक लौकिक माता अपने बालक को कीचड़ से लथपथ देखकर भी उसे दूर नहीं धकेलती, अपितु उसे हृदय से लगाती है, नहलाती-धुलाती है और स्वच्छ वस्त्र पहनाकर सुसज्जित करती है ठीक वैसे ही यह श्रीमद्भगवद्गीता हमारी परम पावन माता है। तभी तो हम प्रार्थना में कहते हैं-

"अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्"

अर्थात् हे माँ श्रीमद्भगवद्गीता! मैं निरन्तर आपका ही ध्यान करता हूँ।

इसी वात्सल्य भाव को अङ्कित करते हुए सन्त विनोबा भावे जी कहते हैं-

गीताई माऊली माझी, तिचा मी बाळ नेणता। पडता रडता घेई उचालोनी कडेवरी।

अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता ही मेरी पूज्य माता है और मैं उसका अबोध बालक हूँ; जब भी मैं गिरता हूँ या रोता हूँ, वह मुझे अपनी गोद में उठाकर मेरे जीवन को उच्चता की ओर ले जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता हमें यथार्थ रूप में ईश्वर के सम्मुख समर्पित होने की प्रेरणा देती हैं और हमें परिमार्जित कर ऊपर उठाती हैं।

3.7

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः(ख्) कर्मयोगम्, असक्तः(स्) स विशिष्यते॥3.7॥

परन्तु हे अर्जुन! जो (मनुष्य) मन से इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर (निष्काम भाव से) कर्मेंद्रियों (समस्त इन्द्रियों) के द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

विवेचन- ज्ञानयोग का मार्ग सबके लिये सुलभ नहीं है। जिस प्रकार एक कुशल तैराक अपनी भुजाओं के बल पर गङ्गा पार कर सकता है, परन्तु सपरिवार व्यक्ति को नौका की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी के लिये कर्त्तव्ययोग वह सुरक्षित नौका है जो उसे संसार सागर से पार ले जाती है। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

का आपुला ठावो न सांडिता। आलिंगिजे चंद्रु प्रकटता ।

हा अनुरागु भोगितां। कुमुदिनी जाणे ॥ ६०॥

जिस प्रकार कमलिनी अपनी जगह छोड़े बिना चन्द्रमा के प्रकाश का आलिङ्गन करती है, वैसे ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ पर रहते हुये परमात्मा से जुड़ सकता है।

यदि अर्जुन युद्ध का त्याग कर हिमालय चले भी जाते, तो भी उनका वीर स्वभाव और रजोगुण उन्हें शान्त बैठने न देता। उनके भीतर जो क्षत्रियोचित ओज है, तेज है, प्रचण्ड रजोगुण है, अनवरत कार्यशीलता है और जो वीर वृत्ति तथा पुरुषार्थ का भाव है, वह उन्हें बैठने न देता। कन्दरा में बैठकर भी उनका मन किसका चिन्तन करता? परमात्मा का अथवा इस युद्धभूमि का? वे यही सोचते रहते कि रणभूमि में इस समय क्या चल रहा होगा? मेरे भ्राता पाण्डव जीत रहे होंगे या कौरव उन पर भारी पड़ रहे होंगे? हमारा यह नियम है कि मन जिसका चिन्तन करता है, वह उसी का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसी व्याकुल स्थिति में अर्जुन न तो श्रीभगवान् का चिन्तन कर पाते और न ही ज्ञान को उपलब्ध हो पाते। उनका मन निरन्तर युद्धभूमि की घटनाओं का ही चिन्तन करता, जो अन्ततः मिथ्याचार की श्रेणी में आता।

मिथ्याचार को भली-भाँति समझने के लिए पूज्य गुरुदेव एक अत्यन्त प्रेरणादायी कथा सुनाते हैं-

एक गुरुदेव के दो शिष्य थे। गुरुदेव ने अपने उन दोनों शिष्यों को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया था कि साधना के पथ पर कभी भी कामिनी और काञ्चन का स्पर्श नहीं करना चाहिये, अन्यथा साधक अपने पवित्र मार्ग से पथभ्रष्ट हो जाता है।

एक दिन गुरुदेव ने उन दोनों शिष्यों को किसी आवश्यक कार्यवश दूसरे गाँव भेजा। मार्ग के मध्य में एक नदी पड़ती थी, जिसमें उस समय प्रचण्ड बाढ़ आयी हुई थी। नदी की उत्ताल तरङ्गों के बीच से किसी की करुण पुकार सुनायी दी। कोई सहायता के लिए व्याकुल था और बाढ़ के तीव्र वेग में डूबा जा रहा था। दोनों शिष्यों ने दूर से देखा कि वह एक सङ्कट में फँसी हुई युवती थी। उसे देखते ही पहले शिष्य को गुरुदेव के वचन स्मरण हो आये कि कामिनी और काञ्चन का स्पर्श सर्वथा वर्जित है। उसने विचार किया कि यह तो साक्षात् युवती है और इसने सुवर्ण के आभूषण भी धारण कर रखे हैं, अतः मैं इसे कैसे स्पर्श कर सकता हूँ? यह सोचकर वह तट पर ही खड़ा रहा।

दूसरे शिष्य ने तनिक भी विचार नहीं किया। उसके भीतर करुणा जागृत हुई और वह तुरन्त उस उफनती हुई नदी में कूद गया। उसने अपनी कार्यकुशलता से उस युवती के प्राणों की रक्षा की और उसे सुरक्षित तट पर ले आया। यह सब देखकर पहले शिष्य ने मन ही मन यह निश्चित कर लिया कि इस दूसरे शिष्य ने गुरुदेव की आज्ञा की घोर अवज्ञा की है। वह रात्रि भर इसी विषय में चिन्तन करता रहा और उसका मन उसी घटना में अटका रहा।

अगले दिन आश्रम पहुँचते ही वह पहला शिष्य गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित हुआ और कल की घटना का वृत्तान्त सुनाते हुए कहने लगा- "गुरुदेव! कल मार्ग में एक ऐसी घटना घटित हुई। आपके द्वारा दिये गये उपदेश का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते हुए मैंने तो उस डूबती हुई युवती को स्पर्श नहीं किया और न ही उसे बचाया परन्तु आपके इस दूसरे शिष्य ने तुरन्त नदी में कूदकर उस स्त्री की रक्षा की। इस प्रकार इसने कामिनी और काञ्चन दोनों का ही स्पर्श करके आपकी मर्यादा को तोड़ा है।"

गुरुदेव ने शान्त भाव से सब सुना और उस दूसरे शिष्य को अपने समीप बुलाया। गुरुदेव पूछते हैं- "क्या कल मार्ग में ऐसी कोई घटना घटी थी?"

दूसरा शिष्य विनीत भाव से हाथ जोड़कर कहता है- "हाँ गुरुदेव! कल नदी में बाढ़ के समय एक प्राणी डूब रहा था और मैंने नदी में कूदकर उसकी रक्षा की। तट पर आने के पश्चात् मुझे ज्ञात हुआ कि वह एक युवती थी परन्तु मैं तो उसे वहीं तट पर ही सुरक्षित छोड़कर आगे बढ़ आया था।"

यह सुनकर गुरुदेव ने पहले शिष्य की ओर देखा और कहा- "उसने तो उस युवती को वहीं नदी के तट पर ही छोड़ दिया और वह

उस बात को विस्मृत भी कर चुका है परन्तु तुमने तो उसे रात्रि भर अपने मस्तिष्क में पकड़कर रखा। पूरी रात्रि तुम उसी युवती और उसी घटना के विषय में सोचते रहे, तुम्हारा मन अभी भी वहीं अटका हुआ है। उसका मन तो उस कर्म को करते ही मुक्त हो गया था, परन्तु तुम कर्म न करके भी बन्धन में बँध गये।"

शरीर से क्रियाओं को रोक लेना परन्तु मन से उन्हीं विषयों का चिन्तन करते रहना ही पाखण्ड है। इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वप्रथम मन के द्वारा इन्द्रियों का नियमन करना आवश्यक है। जब मन अनुशासित और प्रशिक्षित हो जाता है, तब हमारी आँखें स्वतः ही उन दृश्यों की ओर नहीं जाती हैं, जिन्हें देखना हमारी साधना और चरित्र के लिए उचित नहीं है। अतः श्रेष्ठ वही है जो सर्वप्रथम अपने मन को प्रशिक्षित कर इन्द्रियों पर अङ्कुश लगाता है।

मिथ्याचार को हम एक विद्यार्थी के व्यावहारिक उदाहरण से भी समझ सकते हैं। इण्डियन प्रीमियर लीग (IPL) के दिनों में परीक्षा समीप देखकर माता अपने बालक से कहती हैं- "बेटा, तुम्हारी परीक्षा है, अतः तुम्हें यह मैच नहीं देखना है, केवल अध्ययन करना है।" माता की आज्ञा मानकर वह बालक पुस्तकें खोलकर बैठ तो जाता है, परन्तु उसका मन निरन्तर इसी चिन्तन में डूबा रहता है कि कितने रन बने होंगे?

यहाँ बालक का शरीर पुस्तक के सम्मुख है, परन्तु चित्त खेल के मैदान में अटका है। इसी को श्रीभगवान् मिथ्याचार कहते हैं। इस स्थिति से श्रेष्ठ वह अवस्था है जिसके लिए प्रसिद्ध सूक्ति है-

WORK WHILE YOU WORK, PLAY WHILE YOU PLAY, THAT IS THE WAY TO BE HAPPY AND GAY

इसका अभिप्राय है कि पढ़ते समय केवल पढ़ें और खेलते समय केवल खेलें। मनुष्य को सदैव वर्तमान क्षण में ही जीना चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं-

"जिसने अपने मन को प्रशिक्षित कर लिया, उसकी इन्द्रियाँ उसे दिग्भ्रमित नहीं कर सकतीं।"

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज स्पष्ट करते हैं कि मन दृढ़ होने पर आँखें भले ही बाह्य दृश्य देखें, पर मन वहाँ नहीं जाता; वह स्वयं आँखों को खींचकर पुनः पुस्तक पर ले आता है।

कर्म और योग दो शब्दों के मेल से कर्मयोग बनता है। योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका सीधा अर्थ है- जुड़ना। अतः कर्मयोग से तात्पर्य है कर्म के माध्यम से उस परम तत्त्व, उस अखिल ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता से एकाकार हो जाना। इसलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! कर्मों का परित्याग करके कल्याण सम्भव नहीं है। कर्मयोग का अर्थ है-

ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना और फल को प्रसाद रूप में स्वीकार करना।

प्रायः मनुष्य अपने भूतकाल की स्मृतियों या भविष्य की फल-चिन्ता में अटका रहता है। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ज्ञानेश्वरी में लिखते हैं-

वृक्ष कावेली लोटती फळे आली।

तैसी सांडी निपजली कर्मे सिद्धे॥

वे कहते हैं कि जिस प्रकार पूर्ण रूप से पके हुए फल और खिले हुए फूल आने पर वृक्ष तथा लताएँ उन्हें सहज ही नीचे गिरा देते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने सिद्ध कर्मों और उनके फलों को सहज भाव से छोड़ देना चाहिये। यदि वृक्ष अपने फलों को मोहवश डालियों से चिपका कर रखेंगे, तो वे फल वहीं डालियों पर ही सड़ जाएँगे, जिससे सर्वत्र दुर्गन्ध फैल जाएगी। इतना ही नहीं, वह वृक्ष नये फलों को धारण करने की अपनी स्वाभाविक सृजन क्षमता को भी पूर्णतः खो बैठेगा।

यदि हम अपने सफल कर्मों (जैसे स्वर्ण पदक प्राप्ति) के अहङ्कार को मन में धारण किये रहेंगे, तो चित्त में दुर्गन्ध उत्पन्न होगी और नवीन सृजन की क्षमता नष्ट हो जायेगी। कर्म और फल से स्वयं को विच्छेदित करना ही शान्ति का मार्ग है।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज एक माँ की भाँति बड़ी सुन्दर युक्ति बताते हैं। यदि इन्द्रियाँ नियन्त्रण में न आयें, तो उनके साथ हठ के स्थान पर युक्ति का प्रयोग करना चाहिये। जिस प्रकार एक हठी बालक को थोड़ा प्रलोभन देकर सही मार्ग पर लाया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को उनकी रुचि का थोड़ा सा सात्त्विक आहार देकर उन्हें कर्त्तव्य कर्म में नियोजित किया जा सकता है। इस प्रकार मन प्रसन्न रहता है और इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे संयमित होने लगती हैं। जो इस विधि से अनासक्त होकर कर्त्तव्ययोग का आरम्भ करता है, वही श्रेष्ठ

पुरुष है।

श्रीभगवान् अर्जुन को कहते हैं- तुम श्रेय पूछ रहे हो, कल्याण पूछ रहे हो- 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' (ज्यायः अर्थात् जो श्रेष्ठ है, जो श्रेय है)। वे कहते हैं-

3.8

नियतं(ङ्) कुरु कर्म त्वं(ङ्), कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥3.8॥

तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्तव्य कर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

विवेचन- श्रीभगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि अकर्मण्यता की अपेक्षा कर्म करना सदैव श्रेष्ठ है। यहाँ नियत कर्म से तात्पर्य उन कर्त्तव्यों से है, जो हमारे लिये निर्धारित किये गये हैं। यह निर्धारण हमारे स्वधर्म के रूप में प्राप्त होता है।

मनुष्य जिस परिवार, समाज और राष्ट्र में जन्म लेता है अथवा जहाँ उसका सम्बन्ध जुड़ता है, उन सभी के प्रति उसके विशिष्ट उत्तरदायित्व होते हैं। एक अध्यापक के लिये छात्रों को ज्ञान प्रदान करना नियत कर्म है, तो एक गृहिणी के लिये परिवार की व्यवस्था करना उसका स्वधर्म है।

श्रीभगवान् सङ्केत करते हैं कि कर्म के बिना शरीर की यात्रा भी सम्भव नहीं है। श्वास लेना, स्नान करना अथवा भोजन करना भी कर्म की श्रेणी में ही आते हैं। यदि मनुष्य अपने निर्धारित कर्मों का त्याग कर देगा, तो उसकी उपजीविका एवं शारीरिक अस्तित्व भी सङ्कट में पड़ जायेगा।

धर्म के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष माने गये हैं-

अभ्युदय (भौतिक प्रगति) और निःश्रेयस (आत्मिक कल्याण)।

धर्मशास्त्रों के अनुसार, नैतिकता के मार्ग पर चलकर भौतिक उन्नति करना ही धर्म के रथ के दो पहिये हैं। अतः नियत कर्म का सुचारू सम्पादन ही सर्वाङ्गीण प्रगति का आधार है।

सृष्टि का प्रत्येक घटक एक वृहद् तन्त्र का भाग है। यदि इस विश्व-यन्त्र का एक भी पुर्जा अपना कार्य करना बन्द कर दे, तो सम्पूर्ण व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो सकती है। अतः श्रीभगवान् यज्ञ की सङ्कल्पना प्रस्तुत करते हैं।

3.9

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं(ङ्) कर्मबन्धनः।
तदर्थं(ङ्) कर्म कौन्तेय, मुक्तसङ्गः(स्) समाचर॥3.9॥

यज्ञ (कर्तव्य पालन) के लिये किये जाने वाले कर्मों से अन्यत्र (अपने लिये किये जाने वाले) कर्मों में लगा हुआ यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है, (इसलिये) हे कुन्तीनन्दन ! तू आसक्ति-रहित होकर उस यज्ञ के लिये (ही) कर्तव्य कर्म कर।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं- यज्ञ रूपी श्रेष्ठ कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म करने वाला **अयं लोकः** अर्थात् यह मनुष्य समुदाय **कर्मबन्धनः** अर्थात् कर्मों से बँध जाता है। इसीलिए हे कौन्तेय! तुम मुक्तसङ्ग होकर अर्थात् आसक्ति छोड़कर, अनासक्त भाव से उस यज्ञ के निमित्त ही कर्म का आचरण करो। केवल सामान्य आचरण नहीं, अपितु **समाचर** अर्थात् पूरी निष्ठा के साथ, मन लगाकर उस कर्म को करो। किसलिए?

तदर्थं- इस सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण के लिए कर्म करो।

जब हमारे सम्मुख यज्ञ शब्द आता है, तो सामान्यतः हमारे मन में एक यज्ञवेदी की छवि उभरती है, जहाँ पवित्र अग्नि प्रज्वलित हो रही है और हम उसमें घृत (घी) तथा समिधाओं की आहुति दे रहे हैं। हमारे सनातन वैदिक धर्म में यह अग्नि के माध्यम से देवताओं तक अन्न पहुँचाने की एक पवित्र प्रक्रिया है। ये देवता इस सम्पूर्ण सृष्टि का सञ्चालन करने वाली अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं। जैसे- जल के देवता वरुण देव हैं, वायु के देवता पवन देव हैं, समृद्धि और कला की अधिष्ठात्री देवी माता सरस्वती हैं। इन सभी देवताओं को अग्नि के माध्यम से आहुति प्रदान की जाती है क्योंकि अग्नि देव को श्रीभगवान् का यह वरदान प्राप्त है कि वे आहुतियों को सम्बन्धित देवताओं तक पहुँचाते हैं। इसी दिव्य माध्यम से पञ्चमहाभूतों की इस सृष्टि का सन्तुलन बना रहता है। अतः यह वैदिक यज्ञ भी जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ पर श्रीभगवान् जिस यज्ञ की संकल्पना को स्पष्ट करना चाहते हैं, वह संकल्पना और अधिक विस्तृत तथा व्यापक है।

यहाँ यज्ञ शब्द का वास्तविक अर्थ है- सर्वहितकारी समर्पण भाव से, समाज के समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए, सङ्गठित रूप से सामूहिक पुरुषार्थ के द्वारा निष्पादित किया जाने वाला श्रेष्ठ कर्म।

श्रीभगवान् सचेत करते हैं कि यज्ञ के निमित्त किये गये कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। यहाँ यज्ञ का अर्थ केवल अग्निहोत्र तक सीमित नहीं है, अपितु यह एक समर्पण भाव और सामूहिक-प्रयत्न का विस्तृत रूप है।

जब मनुष्य अपने अहङ्कार से ऊपर उठकर सम्पूर्ण सृष्टि के हित के लिये कर्म करता है, तब वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

हम अपने जीवन को चार स्तरों पर जीते हैं- व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि। व्यष्टि अर्थात् व्यक्तिगत जीवन, समष्टि अर्थात् सामाजिक जीवन, सृष्टि अर्थात् इस समस्त प्रकृति के साथ का जीवन और परमेष्टि अर्थात् उस परमात्म तत्त्व के साथ हमारा सम्बन्ध। इन चारों स्तरों पर यदि हम विचार करें, तो मनुष्य पर अनेक ऋण होते हैं, जिनके माध्यम से उसने यह जीवन पाया है। जो भी ज्ञान हमने अर्जित किया है, उसके आधार पर हम अकेले जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। यदि कोई मनुष्य स्वयं को आत्मनिर्भर) कहता भी होगा, तो वह वास्तव में आत्मनिर्भर नहीं होता। क्योंकि हम जिन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, जिन मार्गों का उपयोग करते हैं और जो सारी प्रणालियाँ, प्रक्रियाएँ तथा व्यवस्थाएँ कार्य करती हैं, वे सब दूसरों के श्रम का परिणाम हैं।

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन मनुष्य को अहङ्कार-केन्द्रित भाव से हटाकर सृष्टि-केन्द्रित भाव की ओर ले जाता है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का यह महायज्ञ वक्ता, श्रोता और तकनीकी सहायकों के सामूहिक सहयोग से सम्पन्न होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन भी व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि के पारस्परिक ऋणों एवं सहयोग पर आधारित है।

परम पूजनीय गोलवलकर गुरुजी के सम्मुख जो यज्ञवेदी होती थी, उसमें ऐसी आहुति प्रदान करते हुए यह वाक्य अङ्कित रहता था-

राष्ट्राय स्वाहा, इदं राष्ट्राय इदं न मम।

इसका अर्थ है कि यह सब राष्ट्र के लिए समर्पित है- "तेरा तुझको अर्पण, क्या लागे मेरा।"

इस सन्दर्भ में यह काव्य पङ्क्तियाँ हृदयस्पर्शी हैं-

या धरा हमने बनायी, या बुना हमने गगन?
क्या हमारी ही वजह से बह रहा सुरभित पवन?
या अगन के हम हैं स्वामी, नियन्ता जलधार के?
या जगत के सूत्रधार, नियामक संसार के?

हम न तो नियामक हैं, न हमने धरा बनायी है और न ही हमने गगन बुना है। क्या हमारे कारण यह पवन बह रहा है, जिससे हम श्वास ग्रहण करते हैं? यह जीवन सञ्चालित होने के लिए जो-जो वस्तुएँ आवश्यक हैं, वे सब हमने नहीं बनायी हैं। और इसीलिए हम ऋणी होते हैं; यह ऋण हम पर सदैव रहता है।

श्रीभगवान् कहते हैं- "इसीलिए इस ऋणमुक्ति की भावना से इस यज्ञ में अपनी आहुति प्रदान करना और निरन्तर कर्त्तव्य कर्म करते

रहना।" जो मनुष्य इस कर्म को यज्ञ भावना से सम्पादित नहीं करता, वह कर्म बन्धन में फँस जाता है। इसके विपरीत, जो इस सामूहिक पुरुषार्थ में सम्मिलित हो जाता है, वह मुक्त होता जाता है।

कर्म के तीन मुख्य बन्धन होते हैं-

कर्तृत्व भाव: यह सोचना कि 'मैंने किया'।
भोक्तृत्व भाव: यह सोचना कि 'मैं इसके फल का उपभोग करूँगा'।
कर्मासक्ति: इस बात का हठ रखना कि 'मैं यही कर्म करूँगा'।

अर्जुन इन कर्म बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं। मनुष्य प्रायः कर्म के परिणामों से भयभीत रहता है, इसीलिए वह कर्म करने से पीछे हटता है। अनेक बार हम अपने मन में अपने कर्म और उस कर्म से प्राप्त होने वाले फल को पहले ही निश्चित कर लेते हैं; जैसे- मुझे निन्यानवे प्रतिशत अङ्क प्राप्त होने चाहिये। तत्पश्चात् मनुष्य के स्वभाव की यह विशेषता है कि उसके मन में तुरन्त यह विचार आता है कि 'यदि ऐसा नहीं हुआ तो?' इस प्रकार का नकारात्मक परिणाम मन पर प्रभाव डालता है। ऐसी स्थिति में पूरी क्षमता के साथ कर्म सम्पन्न नहीं हो पाता। मनुष्य परिणाम के भय से भयभीत होकर कर्म करता है। तब उसका आधा मन फल में और आधा मन कर्म में अटका रहता है, जिससे वह कर्म में अपना शत-प्रतिशत योगदान नहीं दे पाता। श्रीभगवान् की यही इच्छा है कि तुम अपनी शत-प्रतिशत क्षमता के साथ इस समष्टि रूपी यज्ञ में सम्मिलित हो जाओ।

श्रीभगवान् कहते हैं- "हे अर्जुन! इस सृष्टि की जो रचना है, वह कर्म के साथ ही हुई है और केवल कर्म के साथ ही नहीं, अपितु यज्ञ के साथ हुई है।"

3.10

सहयज्ञाः(फ्) प्रजाः(स्) सृष्ट्वा, पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम्, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥3.10॥

प्रजापति ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदिकाल में कर्तव्य कर्मों के विधान सहित प्रजा (मनुष्य आदि) की रचना करके (उनसे प्रधानतया मनुष्यों से) कहा कि (तुम लोग) इस कर्तव्य के द्वारा सबकी वृद्धि करो (और) यह (कर्तव्य कर्मरूप यज्ञ) तुम लोगों को कर्तव्य-पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला हो।

विवेचन- पुरा अर्थात् कल्प के आरम्भ में।

सहयज्ञाः अर्थात् यज्ञ के साथ

प्रजाः सृष्ट्वा अर्थात् इस सृष्टि की अथवा प्रजा की रचना, निर्मिति
प्रजापतिः अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा जी ने की

उवाच अनेन प्रसविष्यध्वम् अर्थात् सृष्टि की रचना करने के पश्चात् ब्रह्मा जी ने यह कहा

एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् अर्थात् इस यज्ञ के द्वारा तुम अपना उत्कर्ष करो। इस यज्ञ में तुम भी अपनी आहुति दो, इस कर्म यज्ञ में अपनी भूमिका निभाओ।

एष वः इष्टकामधुक् अस्तु- और यह यज्ञ आपको जो इष्ट है, जो आप चाहते हैं, वह प्राप्त कराए अथवा इष्ट भोग देने वाला हो जाए। ऐसा वरदान श्रीभगवान् देते हैं।

कल्प के आरम्भ में प्रजापति ब्रह्मा जी ने यज्ञ के साथ ही प्रजा की रचना की और यह वरदान दिया कि इसी यज्ञ के माध्यम से तुम अपनी उन्नति करो। यह यज्ञ ही तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला होगा।

इसी कारण मनुष्य अकेला जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। हम भले ही बड़े-बड़े यज्ञ न कर सकें, परन्तु यज्ञमय जीवन अवश्य जी

सकते हैं। हमारे महान् ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा और राष्ट्र के क्रान्तिकारी महापुरुषों का जीवन यज्ञमय ही था। मातृभूमि के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर स्वातन्त्र्यवीर सावरकर ने कहा था-

हे मातृभूमि तुजला मन वाहियेले,
वक्तृत्व वाग्विभवही तुज अर्पियेले,

तुतेंची अर्पिली नवी कविता रसाला,
लेखप्रती विषय तुंचि अनन्य झाला।।

उनका यह भाव था कि मातृभूमि के लिए सब कुछ समर्पित है। उनकी सम्पूर्ण वाणी, सारी कविताएँ और उनकी अनुपम प्रतिभा केवल राष्ट्र के लिए समर्पित थीं। हमारे क्रान्तिकारियों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता मातृभूमि के चरणों में अर्पण की; मातृभूमि ही उनके लिए साक्षात् श्रीभगवान् थीं। इस प्रकार का यज्ञ करने से मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज परम दयालु हैं। वे इस यज्ञ की गूढ़ सङ्कल्पना को हमारे घर तक सरल बनाकर ले आते हैं। वे कहते हैं- हमारा स्वधर्म ही हमारा नित्य यज्ञ है। अपने दैनिक कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना ही हमारा नित्य यज्ञ है। कितनी सुन्दर कल्पना है-

स्वधर्मु जो बापा, तोचि नित्ययज्ञु जाण पां।
म्हणोनि वर्ततां तेथ पापा, संचारु नाहीं ॥ ८१ ॥

यदि तुम अपना स्वधर्माचरण और अपना कर्त्तव्य नित्य यज्ञ के रूप में करोगे, तो तुम्हें कोई भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। यह तुम्हारा नित्य यज्ञ है, प्रतिदिन का यज्ञ है। इतनी सरल व्याख्या कोई और कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार से **जब हर व्यक्ति अपना नित्य यज्ञ करेगा, तब यह एक आदर्श सामूहिक पुरुषार्थ बन जाएगा। एक साथ मिलकर कार्य करने से सभी का कल्याण होता है और सर्वत्र विजय-विजय की स्थिति (Win-win situation) निर्मित होती है। सामूहिक-प्रयत्न (Together Everyone Achieves More) की भावना से ही सबका कल्याण सम्भव है। परस्पर एक-दूसरे की उन्नति करते हुए जीवन जीना ही ब्रह्मा जी की हमारे लिए आज्ञा है।**

यह सम्पूर्ण सृष्टि परस्परावलम्बी है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतः आत्म-निर्भर होने का दावा नहीं कर सकता। यद्यपि हमारे पास धन हो सकता है, किन्तु हमारी सुख-सुविधाओं की वस्तुएँ अनगिनत लोगों के कठिन श्रम का परिणाम होती हैं।

विद्युत विभाग का एक कर्मचारी जब भीषण ग्रीष्म ऋतु में खम्भे पर चढ़कर कार्य करता है, तब हमारे घरों तक प्रकाश पहुँचता है। इसी प्रकार, एक वस्त्र के निर्माण में कपास उगाने वाले किसान से लेकर बटन टाँकने वाली श्रमिक माता तक का योगदान सम्मिलित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इसी व्यवस्था की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि हम इस ऋण को समझें और 'राष्ट्राय स्वाहा राष्ट्राय इदं न मम' (यह राष्ट्र के लिये है, मेरा नहीं) के भाव से कर्म करें।

अतः आसक्ति का त्याग कर, परिणाम के भय से मुक्त होकर, अपनी शत-प्रतिशत क्षमता के साथ इस कर्म-यज्ञ में सम्मिलित होना ही वास्तविक कर्मयोग है। यही भाव मनुष्य को बन्धन से मुक्त कर परम पद की ओर ले जाता है।

श्रीभगवान् यहाँ पर उसी अन्तर्निहित व्यवस्था की ओर हमारी दृष्टि ले जाते हैं। परस्पर एक-दूसरे की उन्नति करते हुए कैसे जीवन जीना है और कैसे अपने लौकिक कर्म को कर्मयोग में परिणित करना है, यह बात श्रीभगवान् यहाँ बहुत सुन्दर शब्दों में समझाते हैं और सन्त ज्ञानेश्वर महाराज भी इसका अनुपम उद्बोधन करते हैं। हम आगे के विवेचन सत्रों में इसे विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

इस विवेचन में जिसके मुखारविन्द से यह ज्ञानमयी धारा प्रवाहित हुई है, उसे श्रीमद्भगवद्गीता साधना शिविर में साक्षात् सुनना परम सौभाग्य की बात है। ऐसा सौभाग्य प्राप्त होने के पश्चात् उस ज्ञान को केवल अपने तक ही सीमित रखना शिष्य की कृपणता होती है। उस दिव्य प्रसाद को समाज में बाँटना ही पड़ता है। ये विचार जो साझा किये गये, वह केवल और केवल पूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा का ही फल है।

साधकों की जिज्ञासाओं के समाधान के हेतु प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर सत्र

प्रश्नकर्ता- दयाशंकर भैया
प्रश्न- सामूहिक रामरक्षा स्तोत्र के पाठ और विवेचन सत्र का समय एक ही होने के कारण बाधा आती है, क्या इस समय को थोड़ा बदला जा सकता है?
उत्तर- विवेचन सत्र का समय बदलना सम्भव नहीं है, साधक बाद में यूट्यूब लिङ्क के माध्यम से छूटे हुए सत्र को सुन सकते हैं।

प्रश्नकर्ता- आरपी भैया
प्रश्न- मन प्रायः भविष्य की ओर भागता है और एकाग्र नहीं कर पाते, इसे नियन्त्रित करने का क्या उपाय है?
उत्तर- मन को नियन्त्रित करने के लिए इसे वर्तमान में किसी शारीरिक क्रिया या सत्कर्म में लगाना चाहिए। जब तक शरीर सक्रिय नहीं होता, तब तक मन भी एकाग्र नहीं होता, इसलिए सेवा अथवा नाम जप के माध्यम से मन को वर्तमान में रखने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्नकर्ता- प्रकाश भैया
प्रश्न- ज्ञानेश्वरी सत्र के लिए आपका संपर्क नंबर क्या है और संवेदनशील क्रियाशीलता का क्या महत्व है?
उत्तर- संपर्क नंबर 9561063901 है और संवेदनशील क्रियाशीलता ही समाज सेवा का वास्तविक मार्ग है।

प्रश्नकर्ता- विमल भैया
प्रश्न- यदि श्रीभगवान् अर्जुन को 'निष्पाप' कहते हैं, तो अट्ठारहवें अध्याय में वे उन्हें किन पापों से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं?
उत्तर- यहाँ 'पाप' का अर्थ केवल बुरा आचरण नहीं अपितु जीवन के अवरोध और मन की दुविधाएँ हैं। श्रीभगवान् शरणागत होने पर साधक के मन के द्वन्द्वों (क्या करें और क्या न करें) को समाप्त कर विवेक जागृत करने का आश्वासन देते हैं।

प्रश्नकर्ता- स्वाति दीदी
प्रश्न- क्या फ्लैट्स में गमलों में पौधे लगाना भी 'यज्ञ' है और कुछ लोग गीता पढ़ने का दिखावा क्यों करते हैं?
उत्तर- छोटे पौधों का पालन-पोषण करना भी सेवा और यज्ञ का ही हिस्सा है। दूसरों के प्रदर्शन पर ध्यान देने के बजाय स्वयं के मार्ग पर केन्द्रित रहें; गीता माँ सभी प्रकार के स्वभाव वाले साधकों को स्वयं सुधार लेती हैं।

।।ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let’s come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||